Research Reinforcement | A Peer Reviewed International Refereed Journal | ISSN 2348-3857
Vol. 13, Issue 2 | November 2025 - April 2026 | pp. 10-14

भूमण्डलीकरण और बाजारवाद के दौर में समकालीन हिन्दी कविता का पक्ष

डॉ. जगदीश गिरी

सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राजस्थान)

शोध सारांश

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में भारत में बाजारवादी ताकतों को आने का अवसर मिला था और महज तीस-पैंतीस वर्षों में इतना कुछ बदल चुका है कि हम स्तब्ध हैं। भारत में पूंजीवादी और सर्वसत्तावादी शक्तियाँ अपनी जड़ें मज़बूत करती जा रही हैं। वे साम्प्रदायिकता के रथ पर सवार होकर आगे बढ़ रही हैं। पूंजीवाद का ऑक्टोपस चारों दिशाओं में फैल रहा है, चाहे वह राजनीति हो अथवा संस्कृति। टी.वी. चैनल और मीडिया के माध्यम से साम्राज्यवादी संस्कृति प्रचारित-प्रसारित हो रही है। कलाओं का अवमूल्यन हो रहा है। उपभोक्तावादी संस्कृति ने कला और साहित्य को बाजार की वस्तु बना दिया है। लेखकों, कलाकारों, बुद्धिजीवियों को भय या प्रलोभन द्वारा चुप करने के षड्यंत्र हो रहे हैं। ऐसे साहित्य को बाजार में बेचा जा रहा है जिससे मनुष्य में विचारहीनता बढ़े और वह जीवन-विमुख हो सके। क्योंकि साम्राज्यवादी ताकतों को यह मालूम है कि कवि केवल कवि नहीं होता, वह भविष्य-द्रष्टा भी होता है। उसकी अपनी वैज्ञानिक समझ होती है। वह बाजारवादी ताकतों के लुभावने चेहरों के भीतर छिपी मानसिकता को भांप लेने की अद्भुत क्षमता रखता है। यही वजह है कि आज का कवि इन खतरों से आगाह करने के साथ-साथ समतल दुनिया के लुभावने विचार का प्रतिरोध करता है। पिछले तीन दशक की हिन्दी कविता को इसके प्रमाण के रूप में पढ़ा जा सकता है।

संकेताक्षर—*भूमंडलीकरण, बाजारवाद, मनुष्यता, संवेदना, स्मृति, संस्कार, काव्य-विवेक*

प्रस्तावना

आज हम भूमण्डलीकरण-उदारवाद-बाजारवाद के नारों के बीच एक 'ग्लोबल विलेज' के युग में जीने के लिए अभिशप्त हैं। यह भूमण्डलीकरण विश्व पूंजीवाद का ही विस्तृत और साम्राज्यवादी रूप है। बीसवीं सदी के अंतिम दशक तक आते- आते दुनियाभर में साम्यवादी अर्थव्यवस्थाएँ ढह गईं तथा चहुंओर बाजारवादी संस्कृति का परचम लहराने लगा है। बाजारवाद के इस दौर में शाश्वत कुछ भी नहीं है। विश्व-मण्डियों में सब-कुछ बिकाऊ है। जो बिकाऊ नहीं है वह टिकाऊ भी नहीं है अर्थात् अनुपयोगी है। मूल्यहीनता और संघर्ष के इस संक्रमणकाल में डार्विन के 'योग्यतम की विजय' का सिद्धान्त ही आदर्श वाक्य की तरह इस्तेमाल हो रहा है। पूंजीवादी और तथाकथित विकसित अर्थव्यवस्था वाले देश विकासशील देशों को आवारा पूंजी के बल पर क़र्ज़ के दुष्चक्र में फांस रहे हैं और सांस्कृतिक प्रदूषण फैला रहे हैं। इस अपसंस्कृति का एक सैलाब एशिया और अफ्रीका के नवस्वतन्त्र देशों को लीलता जा रहा है। जाहिर है कि भारत भी इससे अछूता नहीं रह सका है।

शोध-प्रविधि

प्रस्तुत शोधपत्र में समकालीन हिन्दी कवियों की विभिन्न कविताओं का अध्ययन-विश्लेषण करते हुए भारत में बाजारवाद और पूंजीवाद के गठजोड़ तथा इससे उत्पन्न विभिन्न समस्याओं और चुनौतियों के संदर्भ में कवियों के दृष्टिकोण को समझने का प्रयास किया गया है। अतः इस शोधपत्र में मुख्यतः अध्ययन और विश्लेषण प्रविधि का प्रयोग हुआ है।

भारत में बाजारवादी शक्तियों का प्रवेश

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में हमारे यहां भी बाजारवादी ताकतों को आने का अवसर मिला था और महज तीस वर्षों में इतना कुछ बदल चुका है कि हम स्तब्ध हैं। भारत में पूंजीवादी और सर्वसत्तावादी ताकतें अपनी जड़ें मज़बूत करती जा रही हैं। बहुलतावादी देश में वे साम्प्रदायिकता के रथ पर सवार होकर आगे बढ़ रही हैं। पूंजीवाद का ऑक्टोपस चारों दिशाओं में फैल रहा है, चाहे वह राजनीति हो अथवा संस्कृति। टी.वी. चैनल और मीडिया के माध्यम से साम्राज्यवादी संस्कृति प्रचारित-प्रसारित हो रही है। कलाओं का अवमूल्यन हो रहा है। उपभोक्तावादी संस्कृति ने कला और साहित्य को बाजार की वस्तु बना दिया है। लेखकों, कलाकारों, बुद्धिजीवियों को या तो प्रलोभन देकर चुप करने के षड्यंत्र हो रहे हैं अथवा उनकी आवाज़ दबा दी जाती है। निर्मल वर्मा इस ख़तरे के बारे में यही तो कह रहे थे कि 'संभवतः किसी भी समय में लेखकों, कलाकारों ने इतने व्यापक स्तर पर उत्पीड़न, निर्वासन और एकांतवास की यातना नहीं सही है जितनी हमारे युग में। क्योंकि किसी भी समय में इन काली ताकतों ने मनुष्य की छवि को विकृत कर इतना डरावना कभी नहीं बनाया था।'[1] इसी दौर में विचार का अन्त, आख्यान का अंत के साथ-साथ कविता के अंत का नारा भी खूब उछाला गया है।

दरअसल यह पूंजीवादी साजिश है जिसने विकासशील देशों के साहित्य और संस्कृति में सेंध लगाने का प्रयत्न किया है। साहित्य के भीतर विचार को खत्म किये जाने का यह खेल बढ़ रहा है। ऐसे साहित्य को बाजार में बेचा जा रहा है जिससे मनुष्य में विचारहीनता बढ़े और वह जीवन-विमुख हो सके। उसके सोचने-समझने की क्षमता कम हो जाए। क्योंकि साम्राज्यवादी ताकतों को यह मालूम है कि जब कभी उनको चुनौती मिलेगी तो वह कविता से ही मिलेगी। क्योंकि कवि केवल कवि नहीं होता, वह भविष्य-द्रष्टा भी होता है। उसकी अपनी वैज्ञानिक समझ होती है, वह सामाजिक विमर्श से अनजान नहीं रह सकता। वह बाजारवादी ताकतों के लुभावने चेहरों के भीतर छिपी मानसिकता को भांप लेने की अद्भुत क्षमता रखता है। यही वजह है कि आज का कवि इन खतरों से आगाह करने के साथ-साथ समतल दुनिया के लुभावने विचार का प्रतिरोध करता है। पिछले तीन दशक की हिन्दी कविता को इसके प्रमाण के रूप में पढ़ा जा सकता है। बाजारवादी प्रभुओं ने अपनी कठपुतली सरकारें स्थापित कर उनके ख़िलाफ़ उठने वाले हर एक स्वर को दबाने के लिए जितनी ताकत झोंक दी है, अभिव्यक्ति की आज़ादी पर जितने कुठाराघात हो रहे हैं उसके प्रतिरोध में हिन्दी का कवि अपनी समूची शक्ति से अडकर खड़ा है। चूँकि कविता, साहित्य की अन्य किसी भी विधा की अपेक्षा शीघ्रता से पढ़ी जा सकती है और यदि कविता में 'अपील' हुई तो पाठक उससे बंध जाता है। निर्मल वर्मा पाठक की जिज्ञासा से भी अधिक इसका कारण कविता की ताकत को मानते हैं। उनका मानना है कि 'कविता के भीतर जो ज़िन्दगी धड़कती है, वह बिल्कुल अलग होती है—किसी भी शब्द-समूह या किसी भी प्रकार की शब्द-व्यवस्था से। कविता का अर्थ शब्दों के माध्यम से किसी भी भाव को पहुंचा देने के बाद भी ख़त्म नहीं होता। वह कविता समाप्त होने के बाद भी बराबर बचा रहता है। इस मानी में वह एक अखबारी रपट या किसी तात्विक उक्ति से बिल्कुल अलग होती है जिसकी उपयोगिता एक बार पढ़ने के बाद ही ख़त्म हो जाती है और चूँकि किसी भी रचना के सारे अर्थ हम पूरी तरह कभी समझ नहीं पाते इसलिए इसकी प्रासंगिकता हमारे लिए बराबर बनी रहती है।'[2]

समकालीन हिन्दी कविता में बाजारवाद के दुष्प्रभावों की पड़ताल

समकालीन हिन्दी कविता इस लिहाज़ से बेहद सजगता से अपनी भूमिका का निर्वहन कर रही है। यह वैश्वीकरण के इस दौर में मंडरा रहे खतरों से आगाह करती है तथा लगातार बढ़ रही अमानवीयता, संवेदनहीनता और निरंकुशता पर लगाम लगाने का यत्न कर रही है। इंसानियत के मूल्यों को साझा कर रही है और नष्ट होती जा रही हमारी स्मृतियों को ताज़ा कर बाजारवादी साज़िशों को बेनकाब करने में जुटी है। यह अकारण नहीं है कि कवि प्रभात के संकलन का नाम ही 'अपनों में नहीं रह पाने का गीत' है तो विनोद पदरज 'देस' को स्मृतियों को बचा लेना चाहते हैं। प्रभात की 'याद' शीर्षक से लिखी गयी कविताएँ अपनी जड़ों से विलग होते जाने की पीड़ा से उपजी हैं। उनका सवाल कितना वाज़िब है कि—

'जिन्हें अपने गाँव की याद नहीं आती
उन्हें गाँव की जगह किसकी याद आती है?'[3]

विनोद पदरज की कविताएँ भी बाज़ार की गुंजलक में फंसी हुई मनुष्यता को बचा ले जाने की जुगत है। घर-गाँव को छोड़कर मुंबई में मेहनत-मजूरी करने वालों की जेब में से पेट काट-काटकर जोड़ी हुई जरा-सी पूंजी कैसे उनके घर लौटते-लौटते

वापस मुंबई पहुँच जाती है, इसका बहुत सूक्ष्म चित्र उनकी कविता 'केवल निपजाने से क्या होता है' में देखा जा सकता है। मुंबई गया हुआ मजदूर—

'पैसा कमाता है
जिसे होली पर, दीवाली पर
रात-रात भर जागकर
जेबकतरों से बचता-बचाता
गाँव ले जाता है
मगर घोर आश्चर्य
जब तक पहुँचता है वापस मुंबई
पैसा पहले ही मुंबई पहुँच जाता है'[4]

विनोद बिहारी लाल की 'व्हाट इज द बिग डील' शीर्षक कविता में व्यक्ति के जीवन से लुप्त होती संवेदनाओं और रिश्तों के बाजारीकरण पर करारा व्यंग्य द्रष्टव्य है—

"प्यार भेंट समर्पण
इन्वेस्टमेंट है
सौ लगाओ वहां
जहां से हजार वापस आएं
शादियाँ होती हैं कॉन्ट्रेक्ट पर
साल भर के लिए
एक्जिट क्लॉज के साथ
पार्टियां चाहें तो सालभर बाद
रिन्यू हो सकता है कॉन्ट्रेक्ट"[5]

जब जीवन में बाजार महत्त्वपूर्ण हो जाता है तो हर चीज को आर्थिक उपयोगिता की कसौटी पर कसकर ही उसका मूल्य निर्धारण किया जाता है। जिस व्यक्ति, विचार, संवेदना आदि से मुनाफा नहीं कमाया जा सकता वह निरर्थक है। प्रतिस्पर्धा हावी हो रही है। प्रतिस्पर्धा में टिके रहने के लिए भागम-भाग मची हुई है। परम्परागत ज्ञान नष्ट होता जा रहा है। हिन्दी समकालीन कवि इस खतरे को भांप रहा है। नरेन्द्र पुंडरीक की कविता 'देह में टंगी आंखें' में यह त्रासदी उभर कर सामने आती है—

"कभी था जब चीजों को आंख से नहीं
उंगली से टोया करते थे हमारे पुरखे
और जान लेते थे चीजों की खासियत
अब न तो वे करामाती उंगलियां हैं हमारे पास
और न वे पारखी पुरखे
जिनके हुनर ने कभी बन्द कर दी थी
मैनचेस्टर के मिलों की धुक-धुकी"[6]

मैनचेस्टर पूंजीवादी-बाजारवादी व्यवस्था का पोषक एक प्रतीक बनकर आया है। किसी जमाने में हमारे परम्परागत ज्ञान के सामने नतमस्तक होकर मुंह के बल गिर पड़ने वाला दुनिया का सिरमौर आज हमें अपने इशारों पर नचा रहा है, यही कवि की पीड़ा है।

भूमंडलीकरण के नाम पर बाजारवादी ताकतें हमें निरन्तर यह अहसास कराती हैं कि जो कुछ भी परम्परागत है वह बेकार है। वे हमारे उठने-बैठने, चलने, बोलने, खाने-पीने, सोने यहां तक कि शौच जाने तक का तरीका बदल कर हमें स्टैण्डर्ड सिखाती हैं गोया आज तक हमारे पुरखों ने नाहक अपना जीवन बर्बाद किया। जीवन जीना तो हम तुम्हें सिखाएंगे। जब कि सच तो ये है कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियां अपना माल बेचने के लिए हमारे संस्कारों पर चोट कर हमें बाजार के मुताबिक ढ़लने को मजबूर करती हैं ताकि उनका बाजार कायम रहे। इसलिए अब ठंडा का मतलब 'कोका कोला' हो गया है परन्तु हिन्दी का सजग कवि इस साजिश से बेखबर नहीं है। प्रेमशंकर शुक्ल की कविता 'पानी का मतलब' इस साजिश का पुरजोर विरोध करती है-

"पानी का मतलब/कविता में तैनात मतलब को छुट्टी देना है/
पानी का मतलब/ठंडा मतलब कोका कोला नहीं/
प्यास की वर्तनी को/बाजार बना देने की प्रवृत्ति के/
खिलाफ होना है/सख्त खिलाफ"[7]

दरअसल हमारे यहां पानी केवल एक द्रव्य मात्र नहीं है वरन् एक संस्कृति है। पानी को देव-तुल्य माना गया है और नदियों को माता। बहते पानी को कभी अशुद्ध नहीं कहा गया। कुएं, बावड़ियों को इतना पवित्र माना गया कि पैरों में जूते-चप्पल पहन कर वहां जाना वर्जित था, अधर्म था परन्तु जब से बोतल बन्द पानी का इस्तेमाल 'स्टेटस सिम्बल' बना, कुएं, बावडियों और नदियों का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया। दूसरों की प्यास बुझाने वाली झील मानो स्वयं प्यास से तडप कर दम तोड़ रही है—

"जो झील का पानी/पालता था पूरा शहर/
वही झील आज/अपनी प्यास में छटपटाती है/
उछलती लहरें बीत गईं/और बचा हुआ पानी/
गूंगा हो गया है।"[8]

सांस्कृतिक क्षरण की चिंता

बाजार ने केवल हमारे परंपरागत प्रतीकों, मूल्यों और ज्ञान पर ही हमला नहीं किया वरन् उसने हमारे दैनन्दिन संबंधों को भी नए ढंग से परिभाषित करना सिखा दिया है। सात पीढ़ियों तक चलने वाले रिश्ते-नाते अब सिकुड़ कर महज पति-पत्नी और बच्चों तक ही सीमित हो गये हैं। अतिथि को भी देव-तुल्य मानने वाली संस्कृति की संतानें अब बुजुर्ग माता-पिता को भी 'बर्डन' समझकर उनसे किनारा करने लगी है। बाजार यह सिखा रहा है कि व्यक्ति का अपना 'लाइफ स्टाइल' है, उसमें किसी दूसरे के प्रविष्ट होते ही बाधा पहुंचती है। इसलिए रिश्ते-नाते दरकने लगे हैं और व्यक्ति अकेलेपन और संत्रास से जूझता भागा चला जा रहा है। इसके पीछे बाजार की सोची-समझी रणनीति है। वह चाहता है कि व्यक्ति कुंठा और पीड़ा को भोगता रहे ताकि वह इससे निजात पाने के लिए बाजार की शरण में आए जहां भांति-भांति की औषधियां, पार्टियां, कॉकटेल-मॉकटेल, पब-डिस्को स्वागतातुर खड़े हैं। बच्चों के लिए होस्टल, पालनाघर, बुजुर्गों के लिए वृद्धाश्रम और युवाओं के लिए बीयर-बार, किटी पार्टियां, कॉफी हाउस खोलकर बाजार दोनों हाथों से लूटने में लगा है। आपा-धापी और भागमभाग भरी जिंदगी में व्यक्ति प्यार भरी एक छुअन तक को तरस गया है और सैलून में नाई के द्वारा बाल सहलाए जाने पर वह खुलकर रोना चाहता है पर रो नहीं पाता है गोया यह बाजार ही नाई है जो संवेदनाओं को छू कर माल बेचना चाहता है पर स्थायी रूप से व्यक्ति को राहत पहुंचाना उसका उद्देश्य नहीं है—

"इस तरह भरे बाजार/नाई के आगे सिर झुकाए/
रोना अटपटा लगेगा कितना/
आंसू जो निकले/सूखकर हो चुके थे कांटे।
और झड़ रहे थे केश की कतरनों के साथ"[9]

बाजार के साथ सरपट दौड़ती जिन्दगी में अचानक माँ का आ जाना कितना असहज बना देता है। भास्कर चौधुरी की कविता 'माँ का आना' कविता यह बयाँ करती है—

"माँ के आते ही/मैं असहज हो जाता हूँ/
हो जाती है पत्नी असहज/हम दोनों के कान खड़े"[10]

माँ भी इसे समझ लेती है और चुपचाप वापस लौट जाती है। रिश्तों का यह मशीनीकरण इसी भूमंडलीकृत दुनिया का परिणाम है। विश्व बाजार में अब रिश्ते भी तभी कायम रह सकेंगे जबकि उन से मुनाफा हासिल हो सकेगा एक दिन पत्नी और माँ को भी बेचा जायेगा इस बाजार में। हरेप्रकाश उपाध्याय की कविता 'सोचो एक दिन' में इस प्रवृत्ति पर करारा व्यंग्य किया गया है—

'क्या यह सोचना जरुरी नहीं
कि तुम्हारी जेब
कितनी लम्बी हो सकती है
तुम्हारी बगल में लेटी हुई औरत
कब तक और कितना क्या-क्या बेच सकती है
माँ का दूध कितने रुपये किलो बिकना चाहिए।'[11]

कवि यह चेताना भी नहीं भूलता कि इस मुनाफाखोरी के भयंकर दुष्परिणाम सामने आयेंगे। सब कुछ मटियामेट हो जायेगा—

'सोचो एक दिन सब लोग/धरती ने शुरु कर दी दुकानदारी
तो क्या होगा?'

भूमण्डलीकरण की वजह से एक ऐसे मुनाफाखोर वर्ग का जन्म हुआ है जो सपने बेच कर निरन्तर अपनी पूँजी को बढ़ाता जा रहा है। अरबपतियों की संख्या जिस तेजी से बढ़ी है उससे कई गुना तेज रफ्तार से गरीबों की संख्या बढ़ी है। उपभोक्तावादी संस्कृति ने निम्न मध्यवर्ग को सबसे अधिक लूटा है। लुभावने उत्पादों और तथाकथित उच्च जीवनशैली की चाह में उसका जीवन नारकीय हो गया है । वह रात-दिन पिसकर अपने पसीने की गाढ़ी कमाई झूठे सपने खरीदने में खर्च कर देता है परन्तु उसे मिलती है केवल हताशा और अवसाद—

'निम्न मध्यवर्ग का आदमी सहमा हुआ/खड़ा है जीवन के
चौराहे पर/
सभी दिशाओं से उसे घूर रहे हैं तरह-तरह के लुटेरे/
उसे बरगलाने के लिए ठगों ने कर रखी है पूरी तैयारी'[12]

बाजार के लिए आम आदमी एक उपभोक्ता मात्र है। उसकी इच्छाएँ, जरूरतें बाजार तय करता है। बाजार की गिरफ्त इतनी मजबूत है कि अब निम्न मध्यवर्ग का आदमी भी अपने बच्चों के कैरियर की चिन्ता में ऊँची फीस भरकर महंगे स्कूलों में दाखिला दिलाता है। बच्चे के खेलने-कूदने के दिनों में भारी बस्ता उसकी नियति बनता जा रहा है। माँ-बाप के सपनों और महत्त्वाकांक्षाओं का बोझ नन्हें कन्धे ढो रहे हैं। आखिर कैरियर जो बनाना है—

'उसे बनना पड़ेगा/डॉक्टर, इंजीनियर/संवारना पड़ेगा/
अपना नहीं/अपने माँ-बाप का/कैरियर'[13]

माँ-बाप चाहते हैं कि उनका बच्चा भी शिक्षा पूरी कर किसी बहुराष्ट्रीय कम्पनी में मोटे पैकेज पर या विदेश में नौकरी पा जाए। इसी सपने को साकार करने के लिए मध्यवर्गीय व्यक्ति पिसता रहता है परन्तु एक दिन अपने ही बच्चे को देखने तक के लिए तरस जाता है। कवि पूनम सिंह की कविता 'तुम दूज के चाँद हो गए हो बाबू' में इसी पीड़ा का चित्रण हुआ है—

'मेरे बच्चे!
मेरी आंखों की ऐनक
निरन्तर धुँधलाती जा रही है
दूर बहुत दूर परदेस में/निकलता है अब चाँद/
तुम दूज के चाँद हो गए हो मेरे बाबू'[14]

भूमण्डलीकरण-बाजारवाद-जनित इन विषम परिस्थितियों से रू-ब-रू होता हिन्दी का कवि उदास अवश्य है पर निराश नहीं है।वह जानता है कि कविता कभी मर नहीं सकती, संवेदनाओं को बाजार मिटा नहीं सकता। कम्प्यूटर के युग में भी चिट्ठियों की अहमियत खत्म नहीं होगी। आखिरकार हम पुनः अपनी जड़ों की ओर लौटेंगे। रामदरश मिश्र लिखते हैं—

'कभी-कभी बहुत उदास हो जाता हूँ/सोचकर कि दुनिया
इतनी तेजी से/
आगे बढ़ रही है/और मैं जहाँ का तहाँ हूँ/'

लोग उपहास से कहते हैं—

'विश्वग्राम के इस युग में भी
अपने डुमरी गांव को याद करता है'

गंवई मन समझाता है—

तूने जो पाया है/वह शेष जीवन-यात्रा के लिए बहुत है/
और जिंदगी की समझ के लिए कविता तो है ही'[15]

निष्कर्ष

समकालीन हिन्दी कविताओं को पढ़ते हुए यह कहा जा सकता है कि इन कविताओं में बीसवीं सदी के अंतिम दशक में बदलते हुए भारतीय परिवेश को कवियों ने बहुत सूक्ष्मता से महसूस किया है और उसे अपनी कविताओं के जरिये अभिव्यक्त किया है। भूमण्डलीकरण के दुष्परिणामों से हिन्दी का समकालीन कवि बेखबर नहीं है। इन कविताओं से गुजरते हुए प्रकट होता है कि कवियों की मुख्य चिंता भारत में पनप रही उपभोक्तावादी संस्कृति है। उपभोक्तावादी संस्कृति ने निम्न मध्यवर्ग को सबसे अधिक लूटा है। लुभावने उत्पादों और तथाकथित उच्च जीवनशैली की चाह में उसका जीवन नारकीय हो गया है। साथ ही रिश्तों का मशीनीकरण भी इसी भूमंडलीकृत दुनिया का परिणाम है। इससे मानवीय संवेदना और नैतिक मूल्यों का निरंतर क्षरण हो रहा है जो कि हमारी संस्कृति और विरासत के क्षरण के समान है। इसीलिए वह इस साजिश के खिलाफ पूरी ताकत के साथ खड़ा है। उसे यकीन है कि एक दिन हम इस षड्यंत्र से निजात पा सकेंगे।

सन्दर्भ सूची

1. वर्मा, निर्मल, कला का जोखिम, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001, पृ.सं. 52
2. उपर्युक्त, पृ.सं. 46
3. प्रभात, अपनों में नहीं रह पाने का गीत, साहित्य अकादमी, दिल्ली, 2014, पृ.सं. 42
4. पदरज, विनोद, अगन जल, बोधि प्रकाशन, जयपुर, 2016, पृ.सं. 41
5. लाल, विनोद बिहारी, समकालीन भारतीय साहित्य, अंक 146, पृ.सं. 146
6. पुण्डरीक, नरेंद्र, समकालीन भारतीय साहित्य, अंक 146, पृ.सं. 148
7. शुक्ल, प्रेमशंकर, समकालीन भारतीय साहित्य, अंक 146, पृ.सं. 163
8. उपर्युक्त
9. अनिमेष, प्रेमरंजन, समकालीन भारतीय साहित्य, अंक 146, पृ.सं. 139
10. चौधुरी, भास्कर, समकालीन भारतीय साहित्य, अंक 146, पृ.सं. 140
11. उपाध्याय, हरेप्रकाश, समकालीन भारतीय साहित्य, अंक 120, पृ.सं. 126
12. कुमार, दिनकर, समकालीन भारतीय साहित्य, अंक 144, पृ.सं. 104
13. अवस्थी, अरविन्द, समकालीन भारतीय साहित्य, अंक 144, पृ.सं. 122
14. सिंह, पूनम, समकालीन भारतीय साहित्य, अंक 144, पृ.सं. 111
15. मिश्र, रामदरश, समकालीन भारतीय साहित्य, अंक 144, पृ.सं. 118